International Journal of Trend in Scientific Research and Development (IJTSRD)
Advanced Studies of Multidisciplinary Research and Analysis – November 2023
Available Online: www.ijtsrd.com e-ISSN: 2456 – 6470

भगवद्गीता एवं उसमें सन्निहित ज्ञानयोग

Sanwar Mal Jat

Assistant Professor, Sanskrit, Govt. Girls College, Chomu, Rajasthan, India

सार

महाभारत युद्ध आरम्भ होने के ठीक पहले भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया वह श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है। यह महाभारत के भीष्मपर्व का अंग है। गीता में 18 अध्याय और 700 श्लोक हैं।[1]आज से (सन 2023) लगभग 5168 वर्ष पूर्व (3145 ई.पू.) पहले गीता का ज्ञान बोला गया था। गीता की गणना प्रस्थानत्रयी में की जाती है, जिसमें उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र भी सम्मिलित हैं। अतएव भारतीय परम्परा के अनुसार गीता का स्थान वही है जो उपनिषद् और धर्मसूत्रों का है। उपनिषदों को गौ (गाय) और गीता को उसका दुग्ध कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि उपनिषदों की जो अध्यात्म विद्या थी, उसको गीता सर्वांश में स्वीकार करती है। उपनिषदों की अनेक विद्याएँ गीता में हैं। जैसे, संसार के स्वरूप के संबंध में अश्वत्थ विद्या, अनादि अजन्मा ब्रह्म के विषय में अव्ययपुरुष विद्या, परा प्रकृति या जीव के विषय में अक्षरपुरुष विद्या और अपरा प्रकृति या भौतिक जगत के विषय में क्षरपुरुष विद्या। इस प्रकार वेदों के ब्रह्मवाद और उपनिषदों के अध्यात्म, इन दोनों की विशिष्ट सामग्री गीता में संनिविष्ट है। उसे ही पुष्पिका के शब्दों में ब्रह्मविद्या कहा गया है।[2]

महाभारत के युद्ध के समय जब अर्जुन युद्ध करने से मना करते हैं तब श्री कृष्ण उन्हें उपदेश देते है और कर्म व धर्म के सच्चे ज्ञान से अवगत कराते हैं। श्री कृष्ण के इन्हीं उपदेशों को "भगवत गीता" नामक ग्रंथ में संकलित किया गया है।

परिचय

गीता के १८ अध्याय

गीता के १८ अध्यायों में वर्णित विषयों की भी क्रमप्राप्त संगति है।

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय का नाम अर्जुनविषादयोग है। वह गीता के उपदेश का विलक्षण रंगमंच प्रस्तुत करता है जिसमें श्रोता और वक्ता दोनों ही कुतूहल शांति के लिए नहीं वरन् जीवन की प्रगाढ़ समस्या के समाधान के लिये प्रवृत्त होते हैं। शौर्य और धैर्य, साहस और बल इन चारों गुणों की प्रभूत मात्रा से अर्जुन का व्यक्तित्व बना था और इन चारों के ऊपर दो गुण और थे एक क्षमा, दूसरी प्रज्ञा। बलप्रधान क्षात्रधर्म से प्राप्त होनेवाली स्थिति में पहुँचकर सहसा अर्जुन के चित्त पर एक दूसरे ही प्रकार के मनोभाव का आक्रमण हुआ, कार्पण्य का। एक विचित्र प्रकार की करुणा उसके मन में भर गई और उसका क्षात्र स्वभाव लुप्त हो गया। जिस कर्तव्य के लिए वह कटिबद्ध हुआ था उससे वह विमुख हो गया। ऊपर से देखने पर तो इस स्थिति के पक्ष में उसके तर्क धर्मयुक्त जान पड़ते हैं, किंतु उसने स्वयं ही उसे कार्पण्य दोष कहा है और यही माना है कि मन की इस कायरता के कारण उसका जन्मसिद्ध स्वभाव उपहत या नष्ट हो गया था। वह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि युद्ध करे अथवा वैराग्य ले ले। क्या करें, क्या न करें, कुछ समझ में नहीं आता था। इस मनोभाव की चरम स्थिति में पहुँचकर उसने धनुषबाण एक ओर डाल दिया।

कृष्ण ने अर्जुन की वह स्थिति देखकर जान लिया कि अर्जुन का शरीर ठीक है किंतु युद्ध आरंभ होने से पहले ही उस अद्भुत क्षत्रिय का मनोबल टूट चुका है। बिना मन के यह शरीर खड़ा नहीं रह सकता। अतएव कृष्ण के सामने एक गुरु कर्तव्य आ गया। अत: तर्क से, बुद्धि से, ज्ञान से, कर्म की चर्चा से, विश्व के स्वभाव से, उसमें जीवन की स्थिति से, दोनों के नियामक अव्यय पुरुष के परिचय से और उस सर्वोपरि परम सत्तावान ब्रह्म के साक्षात दर्शन से अर्जुन के मन का उद्धार करना, यही उनका लक्ष्य हुआ। इसी तत्वचर्चा का विषय गीता है। पहले अध्याय में सामान्य रीति से भूमिका रूप में अर्जुन ने भगवान से अपनी स्थिति कह दी।

- प्रथम अध्याय में दोनों सेनाओं का वर्णन किया जाता है।
- शंख बजाने के पश्चात अर्जुन सेना को देखने के लिए रथ को सेनाओं के मध्य ले जाने के लिए कृष्ण से कहता है।
- तब मोहयुक्त हो अर्जुन कायरता तथा शोक युक्त वचन कहता है।

द्वितीय अध्याय

दूसरे अध्याय का नाम सांख्ययोग है। इसमें जीवन की दो प्राचीन संमानित परंपराओं का तर्कों द्वारा वर्णन आया है। अर्जुन को उस कृपण स्थिति में रोते देखकर कृष्ण ने उनका ध्यान दिलाया है कि इस प्रकार का क्लैव्य और हृदय की क्षुद्र दुर्बलता अर्जुन जैसे वीर के लिए उचित नहीं।

कृष्ण ने अर्जुन की अब तक दी हुई सब युक्तियों को प्रज्ञावाद का झूठा रूप कहा। उनकी युक्ति यह है कि प्रज्ञादर्शन काल, कर्म और स्वभाव से होनेवाले संसार की सब घटनाओं और स्थितियों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करता है। जीना और मरना, जन्म लेना और बढ़ना, विषयों का आना और जाना। सुख और दुख का अनुभव, ये तो संसार में होते ही हैं, इसी को प्राचीन आचार्य पर्यायवाद का नाम भी देते थे। काल की चक्रगति इन सब स्थितियों को लाती है और ले जाती है। जीवन के इस स्वभाव को जान लेने पर फिर शोक नहीं होता। यही भगवान का व्यंग्य

है कि प्रज्ञा के दृष्टिकोण को मानते हुए भी अर्जुन इस प्रकार के मोह में क्यों पड़ गया है।

ऊपर के दृष्टिकोण का एक आवश्यक अंग जीवन की नित्यता और शरीर की अनित्यता था। नित्य जीव के लिए शोक करना उतना ही व्यर्थ है जितना अनित्य शरीर को बचाने की चिंता। ये दोनों अपरिहार्य हैं। जन्म और मृत्यु बारी बारी से होते ही हैं, ऐसा समझकर शोक करना उचित नहीं है।

फिर एक दूसरा दृष्टिकोण स्वधर्म का है। जन्म से ही प्रकृति ने सबके लिए एक धर्म नियत कर दिया है। उसमें जीवन का मार्ग, इच्छाओं की परिधि, कर्म की शक्ति सभी कुछ आ जाता है। इससे निकल कर नहीं भागा जा सकता। कोई भागे भी तो प्रकृति उसे फिर खींच लाती है।

इस प्रकार काल का परिवर्तन या परिमाण, जीव की नित्यता और अपना स्वधर्म या स्वभाव जिन युक्तियों से भगवान् ने अर्जुन को समझाया है उसे उन्होंने सांख्य की बुद्धि कहा है। इससे आगे अर्जुन के प्रश्न न करने पर भी उन्होंने योगमार्ग की बुद्धि का भी वर्णन किया। यह बुद्धि कर्म या प्रवृत्ति मार्ग के आग्रह की बुद्धि है इसमें कर्म करते हुए कर्म के फल की आसक्ति से अपने को बचाना आवश्यक है। कर्मयोगी के लिए सबसे बड़ा डर यही है कि वह फल की इच्छा के दल दल में फँस जाता है; उससे उसे बचना चाहिए।

अर्जुन को संदेह हुआ कि क्या इस प्रकार की बुद्धि प्राप्त करना संभव है। व्यक्ति कर्म करे और फल न चाहे तो उसकी क्या स्थिति होगी, यह एक व्यावहारिक शंका थी। उसने पूछा कि इस प्रकार का दृढ़ प्रज्ञावाला व्यक्ति जीवन का व्यवहार कैसे करता है? आना, जाना, खाना, पीना, कर्म करना, उनमें लिप्त होकर भी निर्लेप कैसे रहा जा सकता है? कृष्ण ने कितने ही प्रकार के बाह्य इंद्रियों की अपेक्षा मन के संयम की व्याख्या की है। काम, क्रोध, भय, राग, द्वेष के द्वारा मन का सौम्यभाव बिगड़ जाता है और इंद्रियाँ वश में नहीं रहतीं। इंद्रियजय ही सबसे बड़ी आत्मजय है। बाहर से कोई विषयों को छोड़ भी दे तो भी भीतर का मन नहीं मानता। विषयों का स्वाद जब मन से जाता है, तभी मन प्रफुल्लित, शांत और सुखी होता है। समुद्र में नदियाँ आकर मिलती हैं पर वह अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। ऐसे ही संसार में रहते हुए, उसके व्यवहारों को स्वीकारते हुए, अनेक कामनाओं का प्रवेश मन में होता रहता है। किंतु उनसे जिसका मन अपनी मर्यादा नहीं खोता उसे ही शांति मिलती हैं। इसे प्राचीन अध्यात्म परिभाषा में गीता में ब्राह्मीस्थिति कहा है।

- अर्जुन की कायरता के विषय में अर्जुन कृष्ण संवाद
- सांख्य योग
- कर्मयोग
- स्थिर बुद्धि व्यक्ति के गुण

तीसरे अध्याय

इस प्रकार सांख्य की व्याख्या का उत्तर सुनकर कर्मयोग नामक तीसरे अध्याय में अर्जुन ने इस विषय में और गहरा उतरने के लिए स्पष्ट प्रश्न किया कि सांख्य और योग इन दोनों मार्गों में आप किसे अच्छा समझते हैं और क्यों नहीं यह निश्चित कहते कि मैं इन दोनों में से किसे अपनाऊँ? इसपर कृष्ण ने भी उतनी ही स्पष्टता से उत्तर दिया कि लोक में दो निष्ठाएँ या जीवनदृष्टियाँ हैं-सांख्यवादियों के लिए ज्ञानयोग है और कर्ममार्गियों के लिए कर्मयोग है। यहाँ कोई व्यक्ति कर्म छोड़ ही नहीं सकता। प्रकृति तीनों गुणों के प्रभाव से व्यक्ति को कर्म करने के लिए बाध्य करती है। कर्म से बचनेवालों के प्रति एक बड़ी शंका है, वह यह कि वे ऊपर से तो कर्म छोड़ बैठते हैं पर मन ही मन उसमें डूबे रहते हैं। यह स्थिति असह्य है और इसे कृष्ण ने गीता में मिथ्याचार कहा है। मन में कर्मेद्रियों को रोककर कर्म करना ही सरल मानवीय मार्ग है। कृष्ण ने चुनौती के रूप में यहाँ तक कह दिया कि कर्म के बिना तो खाने के लिए अन्न भी नहीं मिल सकता। फिर कृष्ण ने कर्म के विधान को चक्र के रूप में उपस्थित किया। न केवल सामाजिक धरातल पर भिन्न व्यक्तियों के कर्मचक्र अरों की तरह आपस में पिरोए हुए हैं बल्कि पृथ्वी के मनुष्य और स्वर्ग के देवता दोनों का संबंध भी कर्मचक्र पर आश्रित है। प्रत्यक्ष है कि यहाँ मनुष्य कर्म करते हैं, कृषि करते हैं और दैवी शक्तियाँ वृष्टि का जल भेजती हैं। अन्न और पर्जन्य दोनों कर्म से उत्पन्न होते हैं। एक में मानवीय कर्म, दूसरे में दैवी कर्म। फिर कर्म के पक्ष में लोकसंग्रह की युक्ति दी गई है, अर्थात् कर्म के बिना समाज का ढाँचा खड़ा नहीं रह सकता। जो लोक के नेता हैं, जनक जैसे ज्ञानी हैं, वे भी कर्म में प्रवृत्ति रखते हैं। कृष्ण ने स्वयं अपना ही दृष्टांत देकर कहा कि मैं नारायण का रूप हूँ, मेरे लिए कुछ कर्म शेष नहीं है। फिर भी तंद्रारहित होकर कर्म करता हूँ और अन्य लोग मेरे मार्ग पर चलते हैं। अंतर इतना ही है कि जो मूर्ख हैं वे लिप्त होकर कर्म करते हैं पर ज्ञानी असंग भाव से कर्म करता है। गीता में यहीं एक साभिप्राय शब्द बुद्धिभेद है। अर्थात् जो साधारण समझ के लोग कर्म में लगे हैं उन्हें उस मार्ग से उखाड़ना उचित नहीं, क्योंकि वे ज्ञानवादी बन नहीं सकते, और यदि उनका कर्म भी छूट गया तो वे दोनों ओर से भटक गये

- नित्य कर्म करने वाले की श्रेष्ठता।
- यज्ञादि कर्मों की आवश्यकता।
- अज्ञानी और ज्ञानी के लक्षण।
- काम के निरोध का विषय।

चौथे अध्याय

चौथे अध्याय में, जिसका नाम ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग है, यह बाताया गया है कि ज्ञान प्राप्त करके कर्म करते हुए भी कर्मसंन्यास का फल किस उपाय से प्राप्त किया जा सकता है। यहीं गीता का वह प्रसिद्ध आश्वासन है कि जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब मनुष्यों के बीच भगवान का अवतार होता है, अर्थात् भगवान की शक्ति विशेष रूप से मूर्त होती है।

यहीं पर एक वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है- क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा (४।२)। 'कर्म से सिद्धि'-इससे बड़ा प्रभावशाली जय सूत्र गीतादर्शन में नहीं है। किंतु गीतातत्व इस सूत्र में इतना सुधार और करता है कि वह कर्म असंग भाव से अर्थात् फलासक्ति से बचकर करना चाहिए।

भगवान बताते हैं कि सबसे पहले मैंने यह ज्ञान भगवान सूर्य को दिया था। सूर्य के पश्चात गुरु परंपरा द्वारा आगे बढ़ा। किन्तु अब यह लुप्तप्राय

हो गया है। अब वही ज्ञान मैं तुम्हे बताने जा रहा हूँ। अर्जुन कहते हैं कि आपका तो जन्म हाल में ही हुआ है तो आपने यह सूर्य से कैसे कहा? तब श्री भगवान ने कहा है की तेरे और मेरे अनेक जन्म हुए लेकिन तुम्हे याद नहीं पर मुझे याद है।

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४-७॥„

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥४-८॥„

श्री कृष्ण कहते हैं की जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं अपने स्वरूप की रचना करता हूँ। ॥४-७॥

साधुओं की रक्षा के लिए, दुष्कर्मियों का विनाश करने के लिए, धर्म की स्थापना के लिए मैं युग युग में मानव के रूप में अवतार लेता हूँ। ॥४-८॥

- कर्म, अकर्म और विकर्म का वर्णन।
- यज्ञोके स्वरूप।
- ज्ञानयज्ञ का वर्णन।

पाँचवे अध्याय

पाँचवे अध्याय कर्मसंन्यास योग नामक में फिर वे ही युक्तियाँ और दृढ रूप में कहीं गई हैं। इसमें कर्म के साथ जो मन का संबंध है, उसके संस्कार पर या उसे विशुद्ध करने पर विशेष ध्यान दिलाया गया है। यह भी कहा गया है कि ऊँचे धरातल पर पहुँचकर सांख्य और योग में कोई भेद नहीं रह जाता है। किसी एक मार्ग पर ठीक प्रकार से चले तो समान फल प्राप्त होता है। जीवन के जितने कर्म हैं, सबको समर्पण कर देने से व्यक्ति एकदम शांति के ध्रुव बिंदु पर पहुँच जाता है और जल में खिले कमल के समान कर्म रूपी जल से लिप्त नहीं होता।

भगवान श्रीकृष्ण इस अध्याय में कर्मयोग और साधु पुरुष का वर्णन करते हैं। तथा बताते हैं कि मैं सृष्टि के हर जीव में समान रूप से रहता हूँ अतः प्राणी को समदर्शी होना चाहिए।

"विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः„

"ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण में और चाण्डाल में तथा गाय, हाथी एवं कुत्ते में भी समरूप परमात्मा को देखने वाले होते हैं।"

छठा अध्याय

छठा अध्याय आत्मसंयम योग है जिसका विषय नाम से ही प्रकट है। जितने विषय हैं उन सबसे इंद्रियों का संयम-यही कर्म और ज्ञान का निचोड़ है। सुख में और दुख में मन की समान स्थिति, इसे ही योग कहते हैं।

सातवें अध्याय

की संज्ञा ज्ञानविज्ञान योग है। ये प्राचीन भारतीय दर्शन की दो परिभाषाएँ हैं। उनमें भी विज्ञान शब्द वैदिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण था। सृष्टि के नानात्व का ज्ञान विज्ञान है और नानात्व से एकत्व की ओर प्रगति ज्ञान है। ये दोनों दृष्टियाँ मानव के लिए उचित हैं। इस प्रसंग में विज्ञान की दृष्टि से अपरा और परा प्रकृति के इन दो रूपों की जो सुनिश्चित व्याख्या यहाँ गीता ने दी है, वह अवश्य ध्यान देने योग्य है। अपरा प्रकृति में आठ तत्व हैं, पंचभूत, मन, बुद्धि और अहंकार। जिस अंड से मानव का जन्म होता है। उसमें ये आठों रहते हैं। किंतु यह प्राकृत सर्ग है अर्थात् यह जड़ है। इसमें ईश्वर की चेष्टा के संपर्क से जो चेतना आती है उसे परा प्रकृति कहते हैं; वही जीव है। आठ तत्वों के साथ मिलकर जीवन नवाँ तत्व हो जाता है। इस अध्याय में भगवान के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है जिनका और विस्तार विभूतियोग नामक दसवें अध्याय में आता है। यहीं विशेष भगवती दृष्टि का भी उल्लेख है जिसका सूत्र-वासुदेवः सर्वमिति, सब वसु या शरीरों में एक ही देवतत्व है, उसी की संज्ञा विष्णु है। किंतु लोक में अपनी अपनी रुचि के अनुसार अनेक नामों और रूपों में उसी एक देवतत्व की उपासना की जाती है। वे सब ठीक हैं। किंतु अच्छा यही है कि बुद्धिमान मनुष्य उस ब्रह्मतत्व को पहचाने जो अध्यात्म विद्या का सर्वोच्च शिखर है।

पंचतत्व, मन, बुद्धि भी मैं हूँ। मैं ही संसार की उत्पत्ति करता हूँ और विनाश भी मैं ही करता हूँ। मेरे भक्त चाहे जिस प्रकार भजें परन्तु अंततः मुझे ही प्राप्त होते हैं। मैं योगमाया से अप्रकट रहता हूँ और मुर्ख मुझे केवल साधारण मनुष्य ही समझते हैं।

"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।7.21।।„

"वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।7.26।।

विचार-विमर्श

आठवें अध्याय

की संज्ञा अक्षर ब्रह्मयोग है। उपनिषदों में अक्षर विद्या का विस्तार हुआ। गीता में उस अक्षरविद्या का सार कह दिया गया है-अक्षर ब्रह्म परमं, अर्थात् परब्रह्म की संज्ञा अक्षर है। मनुष्य, अर्थात् जीव और शरीर की संयुक्त रचना का ही नाम अध्यात्म है। जीवसंयुक्त भौतिक देह की संज्ञा क्षर है और केवल शक्तितत्व की संज्ञा आधिदैवक है। देह के भीतर जीव, ईश्वर तथा भूत ये तीन शक्तियाँ मिलकर जिस प्रकार कार्य करती हैं उसे अधियज्ञ कहते हैं। गीताकार ने दो श्लोकों में (८।३-४) इन छह पारिभाषाओं का स्वरूप बाँध दिया है। गीता के शब्दों में ॐ एकाक्षर ब्रह्म है (८।१३)।

नवें अध्याय

को राजगुह्ययोग कहा गया है, अर्थात् यह अध्यात्म विद्या विद्याराज्ञी है और यह गुह्य ज्ञान सबमें श्रेष्ठ है। राजा शब्दका एक अर्थ मन भी था। अतएव मन की दिव्य शक्तिमयों को किस प्रकार ब्रह्ममय बनाया जाय, इसकी युक्ति ही राजविद्या है। इस क्षेत्र में ब्रह्मतत्व का निरूपण ही प्रधान है, उसी से व्यक्त जगत का बारंबार निर्माण होता है। वेद का समस्त कर्मकांड यज्ञ, अमृत, और मृत्यु, संत और असंत, और जितने भी देवी देवता है, सबका पर्यवसान ब्रह्म में है। लोक में जो अनेक प्रकार की देवपूजा प्रचलित है, वह भी अपने अपने स्थान में ठीक है, समन्वय की यह दृष्टि भागवत आचार्यों को मान्य थी, वस्तुतः यह उनकी बड़ी शक्ति थी। इसी दृष्टिकोण का विचार या व्याख्या दसवें अध्याय में पाई जाती है।

दसवें अध्याय

दसवें अध्याय का नाम विभूतियोग है। इसका सार यह है कि लोक में जितने देवता हैं, सब एक ही भगवान, की विभूतियाँ हैं, मनुष्य के समस्त गुण और अवगुण भगवान की शक्ति के ही रूप हैं। बुद्धि से इन छुटभैए देवताओं की व्याख्या चाहे ने हो सके किंतु लोक में तो वह हैं ही। कोई पीपल को पूज रहा है। कोई पहाड़ को कोई नदी या समुद्र को, कोई उनमें रहनेवाले मछली, कछुओं को। यों कितने देवता हैं, इसका कोई अंत नहीं। विश्व के इतिहास में देवताओं की यह भरमार सर्वत्र पाई जाती है। भागवतों ने इनकी सत्ता को स्वीकारते हुए सबको विष्णु का रूप मानकर समन्वय की एक नई दृष्टी प्रदान की। इसी का नाम विभूतियोग है। जो सत्व जीव बलयुक्त अथवा चमत्कारयुक्त है, वह सब भगवान का रूप है। इतना मान लेने से चित्त निर्विरोध स्थिति में पहुँच जाता है।

"सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥„

11वें अध्याय

का नाम विश्वरूपदर्शन योग है। इसमें अर्जुन ने भगवान का विश्वरूप देखा। विराट रूप का अर्थ है मानवीय धरातल और परिधि के ऊपर जो अनंत विश्व का प्राणवंत रचनाविधान है, उसका साक्षात दर्शन। विष्णु का जो चतुर्भुज रूप है, वह मानवीय धरातल पर सौम्यरूप है।

जब अर्जुन ने भगवान का विराट रूप देखा तो उसके मस्तक का विस्फोटन होने लगा। 'दिशो न जाने न लभे च शर्म' ये ही घबराहट के वाक्य उनके मुख से निकले और उसने प्रार्थना की कि मानव के लिए जो स्वाभाविक स्थिति ईश्वर ने रखी है, वही पर्याप्त हैं।

12 वें अध्याय

का नाम भक्ति योग है। जो जानने योग्य है। जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त हो जाता है अर्थात वो परमात्मा ही सत्य है ।।

13वें अध्याय

में एक सीधा विषय क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार है। यह शरीर क्षेत्र है, उसका जाननेवाला जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है।

14वें अध्याय

का नाम गुणत्रय विभाग योग है। यह विषय समस्त वैदिक, दार्शनिक और पौराणिक तत्वचिंतन का निचोड़ है-सत्व, रज, तम नामक तीन गुण-त्रिको की अनेक व्याख्याएँ हैं। गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान या प्रकृति है। गुणों के वैषम्य से ही वैकृत सृष्टि का जन्म होता है। अकेला सत्व शांत स्वभाव से निर्मल प्रकाश की तरह स्थिर रहता है और अकेला तम भी जड़वत निश्चेष्ट रहता है। किंतु दोनों के बीच में छाया हुआ रजोगुण उन्हें चेष्टा के धरातल पर खींच लाता है। गति तत्व का नाम ही रजस है।

१५वें अध्याय

का नाम पुरुषोत्तमयोग है। इसमें विश्व का अश्वत्थ के रूप में वर्णन किया गया है। यह अश्वत्थ रूपी संसार महान विस्तारवाला है। देश और काल में इसका कोई अंत नहीं है। किंतु इसका जो मूल या केंद्र है, जिसे ऊर्ध्व कहते हैं, वह ब्रह्म ही है एक ओर वह परम तेज, जो विश्वरूपी अश्वत्थ को जन्म देता है, सूर्य और चंद्र के रूप में प्रकट है, दूसरी ओर वही एक एक चैतन्य केंद्र में या प्राणि शरीर में आया हुआ है। जैसा गीता में स्पष्ट कहा है-अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित: (१५.१४)। वैश्वानर या प्राणमयी चेतना से बढ़कर और दूसरा रहस्य नहीं है। नर या पुरुष तीन हैं-क्षर, अक्षर और अव्यय। पंचभूतों का नाम क्षर है, प्राण का नाम अक्षर है और मनस्तत्व या चेतना की संज्ञा अव्यय है। इन्हीं तीन नरों की एकत्र स्थिति से मानवी चेतना का जन्म होता है उसे ही ऋषियों ने वैश्वानर अग्नि कहा है।

१६वें अध्याय

में देवासुर संपत्ति का विभाग बताया गया है। आरंभ से ही ऋग्देव में सृष्टि की कल्पना दैवी और आसुरी शक्तियों के रूप में की गई है। यह सृष्टि के द्विविरुद्ध रूप की कल्पना है, एक अच्छा और दूसरा बुरा। एक प्रकाश में, दूसरा अंधकार में। एक अमृत, दूसरा मर्त्य। एक सत्य, दूसरा अनृत।

१७वें अध्याय

की संज्ञा श्रद्धात्रय विभाग योग है। इसका संबंध सत, रज और तम, इन तीन गुणों से ही है, अर्थात् जिसमें जिस गुण का प्रादुर्भाव होता है, उसकी श्रद्धा या जीवन की निष्ठा वैसी ही बन जाती है। यज्ञ, तप, दान, कर्म ये सब तीन प्रकार की श्रद्धा से संचालित होते हैं। यहाँ तक कि आहार भी तीन प्रकार का है। उनके भेद और लक्षण गीता ने यहाँ बताए हैं।

18वें अध्याय

की संज्ञा मोक्षसंन्यास योग है। इसमें गीता के समस्त उपदेशों का सार एवं उपसंहार है। यहाँ पुन: बलपूर्वक मानव जीवन के लिए तीन गुणों का महत्व कहा गया है। पृथ्वी के मानवों में और स्वर्ग के देवताओं में कोई भी ऐसा नहीं जो प्रकृति के चलाए हुए इन तीन गुणों से बचा हो। मनुष्य को बहुत देख भागकर चलना आवश्यक है जिससे वह अपनी बुद्धि और वृत्ति को बुराई से बचा सके और क्या कार्य है, क्या अकार्य है, इसको पहचान सके। धर्म और अधर्म को, बंध और मोक्ष को, वृत्ति और निवृत्ति को जो बुद्धि ठीक से पहचनाती है, वही सात्विकी बुद्धि है और वही मानव की सच्ची उपलब्धि है।

इस प्रकार भगवान ने जीवन के लिए व्यावहारिक मार्ग का उपदेश देकर अंत में यह कहा है कि मनुष्य को चाहिए कि संसार के सब व्यवहारों का सच्चाई से पालन करते हुए, जो अखंड चैतन्य तत्व है, जिसे ईश्वर कहते हैं, जो प्रत्येक प्राणी के हृद्देश या केंद्र में विराजमान है, उसमें विश्वास रखे, उसका अनुभव करे। वही जीव की सत्ता है, वही चेतना है और वही सर्वोपरि आनंद का स्रोत है।

गीता जयंती

ब्रह्मपुराण के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी का बहुत बड़ा महत्व है। द्वापर युग में भगवान श्रीकृष्ण ने इसी दिन अर्जुन को भगवद् गीता का उपदेश दिया था। इसीलिए यह तिथि गीता जयंती के नाम से भी प्रसिद्ध है। और इस एकादशी को "मोक्षदा एकादशी" कहते है. भगवान

ने अर्जुन को निमित्त बनाकर, विश्व के मानव मात्र को गीता के ज्ञान द्वारा जीवनाभिमुख बनाने का चिरन्तन प्रयास किया है।[3]

परिणाम

गीता पर भाष्य

संस्कृत साहित्य की परम्परा में उन ग्रन्थों को भाष्य (शाब्दिक अर्थ - व्याख्या के योग्य), कहते हैं जो दूसरे ग्रन्थों के अर्थ की वृहद व्याख्या या टीका प्रस्तुत करते हैं। भारतीय दार्शनिक परंपरा में किसी भी नये दर्शन को या किसी दर्शन के नये स्वरूप को जड़ जमाने के लिए जिन तीन ग्रन्थों पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना पड़ता था (अर्थात् भाष्य लिखकर) उनमें भगवद्गीता भी एक है (अन्य दो हैं- उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र)। [4]

गीता पर अनेक अचार्यों एवं विद्वानों ने टीकाएँ की हैं। संप्रदायों के अनुसार उनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है :

- अद्वैत - शांकराभाष्य, श्रीधरकृत सुबोधिनी, मधुसूदन सरस्वतीकृत गूढार्थदीपिका।
- विशिष्टाद्वैत -
- यामुनाचार्य कृत गीता अर्थसंग्रह, जिसपर वेदांतदेशिककृत गीतार्थ-संग्रह रक्षा टीका है।
- रामानुजाचार्यकृत गीताभाष्य, जिसपर वेदांतदेशिककृत तात्पर्यचंद्रिका टीका है।
- द्वैत - मध्वाचार्य कृत गीताभाष्य, जिसपर जयतीर्थकृत प्रमेयदीपिका टीका है, मध्वाचार्यकृत गीता-तात्पर्य निर्णय।
- शुद्धाद्वैत - वल्लभाचार्य कृत तत्वदीपिका, जिसपर पुरुषोत्तमकृत अमृततरंगिणी टीका है।
- कश्मीरी टीकाएँ - १. अभिनवगुप्तकृत गीतार्थ संग्रह। २. आनंदवर्धनकृत ज्ञानकर्मसमुच्चय।

इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र संत ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वरकृत भावार्थदीपिका नाम की टीका (१२९०) प्रसिद्ध है जो गीता के ज्ञान को भावात्मक काव्यशैली में प्रकट करती है। महाराष्ट्र मे महानुभाव संप्रदाय के संस्थापक चक्रधर स्वामी इनके महानुभाव तत्वज्ञान पर आधारित मुरलीधर शास्त्री आराध्ये इन्होने रहस्यार्थ चंद्रिका नाम की गीता टीका लिखी है। इसके सीवा महानुभाव संप्रदाय मे और भी 52 गीता टीका उपलब्ध है। वर्तमान युग में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलककृत गीतारहस्य टीका, जो अत्यंत विस्तृत भूमिका तथा विवेचन के साथ पहली बार १९१५ ई। में पूना से प्रकाशित हुई थी, गीता साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उसने गीता के मूल अर्थों को विद्वानों तक पहुँचाने में ऐसा मोड़ दिया है जो शंकराचार्य के बाद आज तक संभव नहीं हुआ था। वस्तुत: शंकराचार्य का भाष्य गीता का मुख्य अर्थ ज्ञानपरक करता है जबकि तिलक ने गीता को कर्म का प्रतिपादक शस्त्र सिद्ध किया है।

- गीताभाष्य - आदि शंकराचार्य
- गीताभाष्य - रामानुज
- गूढार्थदीपिका टीका - मधुसूदन सरस्वती
- सुबोधिनी टीका - श्रीधर स्वामी
- ज्ञानेश्वरी - संत ज्ञानेश्वर (संस्कृत से गीता का मराठी अनु
- गीतारहस्य - बालगंगाधर तिलक
- अनासक्ति योग - महात्मा गांधी
- Essays on Gita - अरविन्द घोष
- ईश्वरार्जुन संवाद- परमहंस योगानन्द
- गीता-प्रवचन - विनोबा भावे
- गीता तत्व विवेचनी टीका - जयदयाल गोयन्दका
- भगवदगीता का सार- स्वामी क्रियानन्द
- गीता साधक संजीवनी (टीका)- स्वामी रामसुखदास
- गीता हृदय-यति राज दण्डी स्वामी सहजानंद सरस्वती
- श्रीमद्भगवद्गीता (आध्यात्मिक गीता के नाम से प्रसिद्ध) - योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी व श्री भूपेद्रनाथ सान्याल जी की टीका और गोपीनाथ कविराज जी द्वारा भूमिका [5]

भगवद्गीता पर उपलब्ध सभी भाष्यों में श्री जयदयाल गोयन्दका की तत्व विवेचनी सर्वाधिक लोकप्रिय तथा जनसुलभ है। इसका प्रकाशन गीताप्रेस के द्वारा किया जाता है। आजतक इसकी 10 करोड़ प्रतियां बिक चुकी हैं।

निष्कर्ष

आधुनिक जनजीवन में

अर्जुन को गीता उपदेश देते हुए श्री कृष्ण की कांस्य प्रतिमा

'श्रीमद्भगवद्गीता बदलते सामाजिक परिदृश्यों में अपनी महत्ता को बनाए हुए हैं और इसी कारण तकनीकी विकास ने इसकी उपलब्धता को बढ़ाया है, तथा अधिक बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है। दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक महाभारत में भगवद्गीता विशेष आकर्षण रही, वहीं धारावाहिक कृष्णा (टीवी धारावाहिक) में भगवद्गीता पर अत्यधिक विशद शोध करके उसे कई कड़ियों की एक शृंखला के रूप में दिखाया गया। इसकी एक विशेष बात यह रही कि गीता से संबंधित सामान्य मनुष्य के संदेहों को अर्जुन के प्रश्नों के माध्यम से उत्तरित करने का प्रयास किया गया। इसके अलावा नीतीश भारद्वाज कृत धारावाहिक गीता-रहस्य (धारावाहिक) तो पूर्णतया गीता के ही विभिन्न आयामों पर केंद्रित रहा। इंटरनेट पर भी आज अनेकानेक वेबसाइटें इस विषय पर बहुमाध्यमों के द्वारा विशद जानकारी देती हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान में धर्म से ज्यादा जीवन के प्रति अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को लेकर भारत में ही नहीं विदेशों में भी लोगों का ध्यान अपनी और आकर्षित कर रही है। निष्काम कर्म का गीता का संदेश प्रबंधन गुरुओं को भी लुभा रहा है। विश्व के सभी धर्मों की सबसे प्रसिद्ध पुस्तकों में शामिल है। गीता प्रेस गोरखपुर जैसी धार्मिक साहित्य की पुस्तकों को काफी कम मूल्य पर उपलब्ध कराने वाले

प्रकाशन ने भी कई आकार में अर्थ और भाष्य के साथ श्रीमद्भगवद्गीता के प्रकाशन द्वारा इसे आम जनता तक पहुंचाने में काफी योगदान दिया है।

भगवद्गीता सन्देश सार

गीता का उपदेश अत्यन्त पुरातन योग है। श्री भगवान् कहते हैं इसे मैंने सबसे पहले सूर्य से कहा था। सूर्य ज्ञान का प्रतीक है अतः श्री भगवान् के वचनों का तात्पर्य है कि पृथ्वी उत्पत्ति से पहले भी अनेक स्वरूप अनुसंधान करने वाले भक्तों को यह ज्ञान दे चुका हूँ। यह ईश्वरीय वाणी है जिसमें सम्पूर्ण जीवन का सार है एवं आधार है। मैं कौन हूँ? यह देह क्या है? इस देह के साथ क्या मेरा आदि और अन्त है? देह त्याग के पश्चात् क्या मेरा अस्तित्व रहेगा? यह अस्तित्व कहाँ और किस रूप में होगा? मेरे संसार में आने का क्या कारण है? मेरे देह त्यागने के बाद क्या होगा, कहाँ जाना होगा? किसी भी जिज्ञासु के हृदय में यह बातें निरन्तर घूमती रहती हैं। हम सदा इन बातों के बारे में सोचते हैं और अपने को, अपने स्वरूप को नहीं जान पाते। गीता शास्त्र में इन सभी के प्रश्नों के उत्तर सहज ढंग से श्री भगवान् ने धर्म संवाद के माध्यम से दिये हैं। इस देह को जिसमें 36 तत्व जीवात्मा की उपस्थिति के कारण जुड़कर कार्य करते हैं, क्षेत्र कहा है और जीवात्मा इस क्षेत्र में निवास करता है, वही इस देह का स्वामी है परन्तु एक तीसरा पुरुष भी है, जब वह प्रकट होता है; अधिदैव अर्थात् 36 तत्वों वाले इस देह (क्षेत्र) को और जीवात्मा (क्षेत्रज्ञ) का नाश कर डालता है। यही उत्तम पुरुष ही परम स्थिति और परम सत् है। यही नहीं, देह में स्थित और देह त्यागकर जाते हुए जीवात्मा की गति का यथार्थ वैज्ञानिक एंव तर्कसंगत वर्णन गीता शास्त्र में हुआ है। जीवात्मा नित्य है और आत्मा (उत्तम पुरुष) को जीव भाव की प्राप्ति हुई है। शरीर के मर जाने पर जीवात्मा अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में विचरण करता है। गीता का प्रारम्भ धर्म शब्द से होता है तथा गीता के अठारहवें अध्याय के अन्त में इसे धर्म संवाद कहा है। धर्म का अर्थ है धारण करने वाला अथवा जिसे धारण किया गया है। धारण करने वाला जो है उसे आत्मा कहा गया है और जिसे धारण किया है वह प्रकृति है। आत्मा इस संसार का बीज अर्थात पिता है और प्रकृति गर्भधारण करने वाली योनि अर्थात माता है।

धर्म शब्द का प्रयोग गीता में आत्म स्वभाव एवं जीव स्वभाव के लिए जगह जगह प्रयुक्त हुआ है। इसी परिपेक्ष में धर्म एवं अधर्म को समझना आवश्यक है। आत्मा का स्वभाव धर्म है अथवा कहा जाय धर्म ही आत्मा है। आत्मा का स्वभाव है पूर्ण शुद्ध ज्ञान, ज्ञान ही आनन्द और शान्ति का अक्षय धाम है। इसके विपरीत अज्ञान, अशांति, क्लेश और अधर्म का द्योतक है।

आत्मा अक्षय ज्ञान का स्रोत है। ज्ञान शक्ति की विभिन्न मात्रा से क्रिया शक्ति का उदय होता है, प्रकृति का जन्म होता है। प्रकृति के गुण सत्त्व, रज, तम का जन्म होता है। सत्त्व-रज की अधिकता धर्म को जन्म देती है, तम-रज की अधिकता होने पर आसुरी वृत्तियाँ प्रबल होती और धर्म की स्थापना अर्थात गुणों के स्वभाव को स्थापित करने के लिए, सतोगुण की वृद्धि के लिए, अविनाशी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त आत्मा अपने संकल्प से देह धारण कर अवतार गृहण करती है।

सम्पूर्ण गीता शास्त्र का निचोड़ है बुद्धि को हमेशा सूक्ष्म करते हुए महाबुद्धि आत्मा में लगाये रक्खो तथा संसार के कर्म अपने स्वभाव के अनुसार सरल रूप से करते रहो। स्वभावगत कर्म करना सरल है और दूसरे के स्वभावगत कर्म को अपनाकर चलना कठिन है क्योंकि प्रत्येक जीव भिन्न भिन्न प्रकृति को लेकर जन्मा है, जीव जिस प्रकृति को लेकर संसार में आया है उसमें सरलता से उसका निर्वाह हो जाता है। श्री भगवान ने सम्पूर्ण गीता शास्त्र में बार-बार आत्मरत, आत्म स्थित होने के लिए कहा है। स्वाभाविक कर्म करते हुए बुद्धि का अनासक्त होना सरल है अतः इसे ही निश्चयात्मक मार्ग माना है। यद्यपि अलग-अलग देखा जाय तो ज्ञान योग, बुद्धि योग, कर्म योग, भक्ति योग आदि का गीता में उपदेश दिया है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सभी योग बुद्धि से श्री भगवान को अर्पण करते हुए किये जा सकते हैं इससे अनासक्त योग निष्काम कर्म योग स्वतः सिद्ध हो जाता है। (सन्दर्भ - बसंतेश्वरी भगवदगीता से)

संदर्भ

[1] "भगवत गीता: भगवद गीता के सभी अध्याय व श्लोक". हिन्दू लाइव. मूल से 19 नवंबर 2020 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 18 जून 2020.

[2] "Geeta Upadesh in Hindi, गीता ज्ञान, Geeta Gyan in Hindi, Geeta Saar in Hindi". नवभारत टाइम्स. मूल से 24 अप्रैल 2020 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2020-06-30.

[3] "जिस गीता पर गांधी को था पूरा भरोसा आखिर आइंस्टीन ने उसे लेकर क्यों जताया अफसोस". Amar Ujala. मूल से 27 जनवरी 2019 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2020-06-30.

[4] वेदान्त, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर

[5] श्री भूपेद्रनाथ, सान्याल (2005). श्रीमद्भगवद्गीता (प्रथम संस्करण). भागलपुर बिहार: गुरूधाम प्रकाशन समिति.